क्या विकास के लिए मदद जरूरी है?

बी.आर. शिनॉय

(B.R. SHENOY – ECONOMIC PROPHECIES)

21 जनवरी, 1970

विदेशी मदद से प्रगति को पंख लगने की वर्तमान सोच के विपरीत लेखक ने इस अध्ययन में संभावना व्यक्त की है कि भारी-भरकम सहायता का भारी भरकम दुरूपयोग होगा। उन्होंने इस बात पर भी हैरानी जताई है कि आईएमएफ और वर्ल्ड बैंक के अर्थशास्त्री और सांख्यिकीविद भी इस बात को समझ नहीं सके हैं....

इस बात को लेकर लगभग सर्वसम्मति सी है कि आर्थिक विकास की गति तेज करने के लिए विदेशी सहायता जरूरी सी है। इस संबंध में जो तर्क आमतौर पर दिया जाता है वह यह कि विकासशील देशों में तेजी से प्रगति के लिए जरूरी संसाधनों का अभाव होता है। संसाधनों की यह कमी कम आय और उसके चलते कम बचत की कम दर के कारण है। अविकसित देशों में बचत की दर आमतौर पर 5 से 7 फीसदी तक होती है। दूसरी ओर यह विकसित देशों में 15 से 30 फीसदी तक होती है। जापान में तो यह 39 फीसदी है। कुछ विकसित देशों में बचत की मात्रा तो भारत की राष्ट्रीय आय से भी ज्यादा है।

घरेलू संसाधनों के अल्प संचय को मदद की दरकार होती है। इस वजह से मदद लेने के तर्क को विदेशी बचत की आमद से समर्थन मिलता रहता है। ऐतिहासिक तौर पर अमेरिका और पश्चिम यूरोप के अन्य देशों तक में आर्थिक विकास विदेशी पूंजी के आगमन

से ही तेज हुआ। विदेशी पूंजी के अभाव में शायद इन देशों में भी विकास की दर धीमी ही होती। इस वक्त भारत को विदेशी मदद उसकी बचत का 65 फीसदी है। साथ ही मदद देने वाले देशों और वर्ल्ड बैंक, संयुक्त राष्ट्र से आने वाले अधिकारियों ने भी हमारी नीतियों को नैतिक समर्थन दे दिया है।

मूल उद्योग वो होते हैं जो निवेश संसाधनों की एक तय मात्रा के लिए सबसे ज्यादा उत्पाद देते हैं और वर्तमान पारिश्रमिक दरों पर सबसे ज्यादा रोजगार देते हैं, जरूरी नहीं कि इसमें लोहा और इस्पात, हैवी इंजीनियरिंग, हैवी केमिकल्स, बड़ी नदी घाटी परियोजनाएं और ऐसे ही उद्योग शामिल हों।

लेकिन आर्थिक विकास का मतलब सिर्फ बचत की मात्रा और निवेश ही नहीं है। लोगों के दृष्टिकोण के साथ ही संस्थागत और अन्य परिस्थितिजन्य कारकों और निवेश की दिशा का भी अपना महत्व है। कौशल और अन्य गैर-आर्थिक कारकों में सुधार काफी धीमा होता है। निरक्षरता की समाप्ति और सामान्य और प्रौद्योगिकी शिक्षा का प्रसार विकास पर उल्लेखनीय प्रभाव डाल सकते हैं। खासतौर पर तब जब तुलना निवेश के एक सामान्य से प्रवाह से की जा रही हो। लेकिन आर्थिक कारकों में निवेश की दिशा विकास की गति के लिहाज से महत्वपूर्ण हो सकती है।

आंकड़ों के लिहाज से पूंजी संचय संभव है, जैसा कि भारत में पिछले 15 सालों में हुआ है। इस काल में निवेश की गति में तीन गुना इजाफा देखा गया। वर्तमान में यह फिर से दोगुनी हो गई है। फिर भी अर्थव्यवस्था अराजकता की सी स्थिति में है। आंकड़ों और जीवनोपयोगी वस्तुओं की खपत के लिहाज से प्रति व्यक्ति आय भले ही और खराब न हो, लेकिन लगभग स्थिर सी हो गई है। ऐसा इसलिए है क्योंकि बढ़ता निवेश गलत दिशा में चला गया।

पिछले 15 सालों में भारत और हाल के कुछ वर्षों में कुछ अन्य विकासशील देशों ने दो ऐसे नीतिगत फैसले लिए हैं जो उनके आर्थिक विकास के लिहाज से घातक साबित हुए हैं। पहला, मूल उद्योगों की गलत पहचान की गई है। घरेलू बचत और विदेशी मदद से उपलब्ध निवेश के संसाधनों में से बड़ा हिस्सा इसी 'मूल' उद्योग में लगाया गया है।

दूसरा, निजी क्षेत्र ने आयात की विवेकहीन स्थिति को देखते हुए पूंजी का बड़े पैमाने पर इस्तेमाल किया है।
एक ही किस्म के उद्योगों को सभी देशों के लिए मूल उद्योग नहीं माना जा सकता। दूसरे महायुद्ध से पहले अमेरिका में कृषि मूल उद्योग था। धीरे-धीरे परिवर्तन के साथ उत्पादन उद्योग और फिर भारी उद्योगों ने मूल उद्योग का रुप ले लिया। हो सकता है कि कल अमेरिका का मूल उद्योग स्वचालन (automation) हो। इजरायल में संभव है कि आज मूल उद्योग खट्टे फल और हीरों की पॉलिशिंग हो-यही दोनों देश की विदेशी मुद्रा विनिमय में आधे से ज्यादा का योगदान देते हैं।
मूल उद्योग वो होते हैं जो निवेश संसाधनों की एक तय मात्रा के लिए सबसे ज्यादा उत्पाद देते हैं और वर्तमान पारिश्रमिक दरों पर सबसे ज्यादा रोजगार देते हैं, जरूरी नहीं कि इसमें लोहा और इस्पात, हैवी इंजीनियरिंग, हैवी केमिकल्स, बड़ी नदी घाटी परियोजनाएं और ऐसे ही उद्योग शामिल हों। इसीलिए मूल उद्योग देश-दर-देश और कई बार तो एक ही देश में काल-दर-काल बदलते रहते हैं।
यह किस्सा काफी विख्यात है कि अहमदाबाद के उपनगर के आकार के एक देश के प्रधानमंत्री को एक भारतीय अर्थशास्त्री ने यह सुझाव दिया था कि अपने देश को आर्थिक मंदी से उबारने के लिए वह वहां पर एक इस्पात संयंत्र की स्थापना कर ले। एक समाजवादी मित्र देश ने उसे इस सुझाव को अमल में लाने से वक्त रहते रोक दिया।
यह सही घरेलू नीतियों के महत्व को उजागर करता है। केवल सही घरेलू नीतियां ही न केवल सर्वाधिक आर्थिक विकास सुनिश्चित करेंगी बल्कि विदेशी मदद के प्रवाह को भी गलत दिशा में जाने से रोकेंगी। अगर घरेलू नीतियां सांमजस्यपूर्ण बहुपक्षीय और संतुलित विकास करने में नाकाम होने के दौरान ही संसाधनों को गलत जगह लगा देती हैं तो विदेशी मदद कितनी भी हो आर्थिक विकास में समुचित योगदान नहीं दे पाएगी। भारी सहायता का भारी दुरुपयोग होने की आशंका ज्यादा होती है।
चूंकि हमारी चर्चा आर्थिक विकास पर केंद्रित है, इसलिए मदद की परिभाषा का संबंध हमारी अर्थव्यवस्था में विदेशी बचत के प्रवाह से होना चाहिए, न कि कर्ज की 'कठोर' या 'नर्म' शर्तों से। हालांकि निर्यात में बाह्य ऋण प्रतिदेय (export credit repayable) को वास्तविकता में मदद नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऋण, घरेलू पूंजी निर्माण को

वित्तीय मदद नहीं करता। सोवियत संघ से मिलने वाली मदद के कुछ पत्रिकाओं में आंकड़े इसीलिए ज्यादा बड़े दिखाई देते हैं क्योंकि उनमें बाह्य ऋण प्रतिदेय को भी मदद में शामिल दिखाया जाता है। साथ ही मदद में वस्तु के तौर पर मदद और मुद्रा में मदद के साथ-साथ 'पीएल 480 इम्पोर्ट्स' जैसी विदेशी बचत के अर्थव्यवस्था में शामिल किए जाने को भी स्थान दिया जाना चाहिए। ये आयात भी पूंजी निर्माण, रोजगार निर्माण और आर्थिक विकास में मदद करते हैं। यह भी कहा जाता रहा है कि भारत को मिलने वाली मदद, इजरायल, जॉर्डन, दक्षिण वियतनाम और पाकिस्तान को मिलने वाली मदद से कम है। यह तुलना प्रति व्यक्ति आय पर आधारित होती है, जिसे कि तुलना का सही आधार नहीं कहा जा सकता। इस आधार पर तो भारत को मिलने वाली मदद का आकार दुनिया में सबसे कम हो सकता है।

मदद के आकार का पता लगाने का सही मापदंड इसका घरेलू बचत से संबंध हो सकता है। इस आधार पर भारत को हाल में मिलने वाली मदद का आकार दुनिया में सबसे बड़ा हो सकता है। काफी वक्त से हालांकि अमेरिका का शुमार मदद देने वालों में सबसे अंत में होता रहा है, लेकिन भारत हाल तक सबसे ज्यादा मदद पाने वाला देश था। मदद का सही मूल्य उस वक्त और कम दिखाई देने लगता है जब हम, जैसा कि हम करते रहे हैं, विदेशी मदद को आधिकारिक विनिमय दर पर भारतीय मुद्रा में परिवर्तित करते हैं। मदद का मूल्यांकन तो मदद कोष से खरीदे गए आयातित माल की भारतीय कीमतों से तुलना से किया जा सकता है। इसके लिए विदेशी विनिमय के वास्तविक मूल्यांकन की जरुरत होगी, जो कि आधिकारिक विनिमय दर की तुलना में मुक्त बाजार की दर के ज्यादा करीब होगा। इन कारकों का समायोजन करके-जिसके लिए बारीकी से सांख्यिकी निरीक्षण जरूरी है-विदेशी मदद कुल निवेश की एक चौथाई नहीं तकरीबन आधी होगी। अगर विदेशी मदद, निवेश की एक चौथाई नहीं आधी है तो इसका मतलब यही है कि यह मदद घरेलू बचत के 100 फीसदी के करीब है, 50 फीसदी के करीब नहीं। एक-दो अपवादों को छोड़ दिया जाए तो किसी भी देश को उतनी मदद नहीं मिली जितनी की यूरोप को मार्शल प्लान से मिली।

विदेशी मदद के रिसाव से होने वाली हानि (Leakage of foreign aid)

विदेशी मदद के रिसाव (व्यर्थ चले जाने) की भी जांच जरूरी है। कुल निवेश (या 100 फीसदी घरेलू बचत) के बराबरी की विदेशी मदद के बाद भी भारत की राष्ट्रीय आय में 1965-66 में समाप्त होने वाले पांच वर्षों में तीन फीसदी की वार्षिक दर से इजाफा हुआ और प्रति व्यक्ति आय 1960-61 से अर्द्ध स्थिर (semi stagnant) बनी रही, अगर हम मौसम आधारित कृषि उत्पादन (1964-65 और 1967-68 की तरह) में इजाफे की अनदेखी भी कर दें तो भी। क्या इसका यह मायने है कि इस मदद के अभाव में बढ़ोत्तरी की दर कुछ ज्यादा धीमी होती, शायद 0.5 फीसदी प्रति वर्ष यह आबादी में इजाफे की दर से बहुत ज्यादा कम? क्या इसका सचमुच यही मतलब है कि अगर मदद न मिली होती और मदद की गति तेज न की गई होती तो, भारत की अर्थव्यवस्था जार-जार हो जाती? पहली नजर में ही दिखाई देने लगता है कि कहीं दाल में कुछ काला है। साफ तौर पर मदद का वह प्रभाव नहीं पड़ा, जो पड़ना चाहिए था। अगर मदद ने आय में दिखाई देने वाला इजाफा नहीं किया, तो आखिर वह गई कहां?

जाहिर तौर पर जो आधिकारिक भुगतान संतुलन का वित्त पोषण करेगा, भले ही अप्रत्यक्ष तौर पर, वही स्मगल आयात के लिए विदेशी मुद्रा का विनिमय और छिपकर भेजी गई रकम का भी भुगतान करेगा। यह कौए के घोंसले में कोयल द्वारा अपने अंडे रखे जाने जैसा मामला है।

मदद का अधिकतर भाग तो रिसाव का शिकार हो जाता है। रिसाव बाहरी भी होता है और आंतरिक भी। जहां तक बाहरी रिसाव की बात है तो मेरा संक्षिप्त तर्क यह है कि सोने और उपभोक्ता सामग्री की स्मगलिंग ने विदेशी पूंजी के निर्यात, मंजूर विदेशी मुद्रा की तुलना में विदेश यात्रा के खर्च, जिसका विदेशी मुद्रा में ही भुगतान किया गया, को छिपा लिया क्योंकि इस विदेशी मुद्रा का कोई भी अंश मुफ्त का उपहार नहीं है। इस निर्यात और उसके भुगतान के लिए विदेशी मुद्रा तीन तरीके से आ सकती है- (अ) निर्यात रसीद, जिसमें अदृश्य निर्यात भी दर्ज हो, (ब) मुद्रा भंडार या (स) विदेशी मदद। विदेशी मुद्रा हासिल करने का कोई और चौथा स्रोत नहीं है।

इस यातायात के लिए विदेशी मुद्रा का इंतजाम संभवतया निर्यात रसीद के जरिये संभव नहीं है। क्योंकि खुला आयात ही खुले आयात की सीमा का उल्लंघन कर सकता है। नकद संचय पहले ही बहुत निचले स्तर पर होने के कारण इससे भी मुद्रा का इंतजाम नहीं किया जा सकता। वित्तीय पोषण का इकलौता साधन विदेशी मदद है और सवाल यह है ही नहीं कि विदेशी मदद ली जाए या नहीं। सवाल यह है किः विदेशी मदद कैसे ली जाए?

यही सबसे रोचक पड़ताल है। किसी भी देश द्वारा विदेशी मदद हासिल करने के सबसे ज्यादा आजमाए तरीके हैं, निर्यात का कम मूल्यांकन (underinvoicing), आयात का ज्यादा मूल्यांकन (overinvoicing) और निर्यात की तस्करी (smuggling out export)। इस दोहन से आधिकारिक भुगतान संतुलन (बीओपी) में अंतर उतना ही अधिक बढ़ना चाहिए जितनी विदेशी मुद्रा खुले बाजार की ओर मोड़ दी गई है। तब आधिकारिक भुगतान संतुलन का घाटा वर्ल्ड बैंक और एड इंडिया कंर्सोटियम को 'विकास के लिए घाटा' के नाम पर 'बेचा' जा सकता है और ये संस्थान इस घाटे को अच्छा सा स्वरूप दे देती हैं।

जाहिर तौर पर जो आधिकारिक भुगतान संतुलन का वित्त पोषण करेगा, भले ही अप्रत्यक्ष तौर पर, वही स्मगल आयात के लिए विदेशी मुद्रा का विनिमय और छिपकर भेजी गई रकम का भी भुगतान करेगा। यह कौए के घोंसले में कोयल द्वारा अपने अंडे रखे जाने जैसा मामला है। कौए को चालाकी के लिए जाना जाता है, लेकिन यह न तो अपने अंडे पहचान सकता है और न ही उन्हें गिन सकता है। इससे यह अपने और कोयल दोनों के ही अंडों की बड़ी ही अच्छी तरह से देखभाल करता है। बेहतरीन रिसर्च विभाग और नीतियों के निर्धारण के बाद भी रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया और वित्त मंत्रालय एक कौए से बेहतर प्रदर्शन नहीं कर पाए हैं। आंकड़ों को जुटाने और उसके विश्लेषण में उनकी तमाम महारत के बाद भी दे आधिकारिक भुगतान संतुलन में ये दोनों ही काले बाजार को जा रही विदेशी मुद्रा और विकास कार्यों को जा रहे धन में अंतर नहीं बता पाते हैं। उन्होंने इस समस्या का हल इस भ्रांति को पालकर खोज निकाला है कि वह वर्ल्ड बैंक और एड इंडिया कंर्सोटियम को जो 'बेच' रहे हैं, वह कुछ और नहीं विकास की ही उपज हैं। मजे की बात यह है कि दोनों ही प्रतिष्ठित संस्थाओं को इसे स्वीकारने में कोई परेशानी

नहीं है।

ऐसे में समझा जा सकता है कि वित्त मंत्रालय का विदेशी मुद्रा नियंत्रण प्रवर्तन निदेशालय, रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया और कस्टम विभाग इस बात को स्थापित करना चाहते हैं कि विदेशी मदद में होने वाला बाहरी निकास, सकल लेनदेन की मात्रा की तुलना में कुछ खास नहीं है। इस आग्रह के तार्किक और तथ्यात्मक आधार का कोई खुलासा नहीं किया गया है। दूसरी ओर, विदेशी मुद्रा के डीलर और बाजार की गपशप से यह बात सामने आती है कि विदेशी मुद्रा में अवैध लेनदेन का आकार बहुत बड़ा है और विदेशी मुद्रा विनिमय पर नियंत्रण किसी चलनी की तरह है जिससे काफी-कुछ छनकर निकल ही जाता है।

परिवर्तनशील मुद्राओं में आधिकारिक और काले बाजार के मूल्यों में अंतर को देखते हुए-20 नवंबर 1969 को ज्यूरिख में भारतीय रुपए का स्विस फ्रैंक की तुलना में अधिमूल्य (premium in terms of Indian rupee on the swiss franks) 47.6 फीसदी था-ऐसे में यह मानना कि विदेशी मदद से होने वाला रिसाव कम है अवास्तविक ही कहा जाएगा। एक मोटे अनुमान के अनुसार हाल के वर्षों में यह सालाना 425 करोड़ रुपए हो सकता है। 1967-68 को समाप्त दशक में निर्यात से भारत में विदेशी मुद्रा का आगमन सालाना 1300 करोड़ रुपए था। ऐसे में विदेशी मुद्रा का आधिकारिक से काले बाजार में प्रवाह इसी काल के दौरान भारतीय निर्यात का 54 फीसदी हो सकता है।

हम पुलिस द्वारा जब्त किए जाने वाले विदेशी सामान के आंकड़ों से विदेशी मदद से विदेशी मुद्रा के इस रिसाव के आकार का अंदाजा लगा सकते हैं। धारणा यह है कि विदेशी मुद्रा विनिमय का अवैध कारोबार ही स्मगलिंग के सामान के लिए पूंजी उपलब्ध कराता है। 1968-69 के पहले आठ माह में जब्त स्मगल सामान का मूल्य आधिकारिक विनिमय दर के आधार पर 14.04 करोड़ रुपए बैठता है। इसे 12 माह के लिए 21.06 करोड़ रुपए माना जा सकता है। स्मगलिंग के सामान का भी इंश्योरेंस किया जाता है और इंश्योरेंस प्रीमियम ही 15 फीसदी के आसपास होता है। अगर हम इंश्योरेंस कंपनियों की लागत और लाभ को लगभग 10 फीसदी मान लें तो जब्त आयातित माल कुल इंश्योर किए हुए स्मगल माल का पांच फीसदी होगा।

काला बाजार केवल स्मगलिंग के सामान को ही विदेशी मुद्रा की आपूर्ति नहीं करता।

ये बाजार चोरी-छिपे होने वाले पूंजी के आयात और तय मंजूर राशि लेकर ही विदेश जा सकने वाले विदेशी पर्यटकों को भी विदेशी मुद्रा की आपूर्ति करते हैं। यहां यह ध्यान देने की जरूरत है कि सरकार के प्रयास विदेशी मुद्रा के इस अवैध कारोबार को स्वीकृति नहीं देते।

जहां तक विदेशी मुद्रा के आंतरिक रिसाव की बात है तो ऐसा अतिपूंजीकरण (overcapitalisation) के कारण हुआ है। भारी उत्पादन,जरुरत से ज्यादा स्टाफ, भ्रष्टाचारयुक्त भुगतान (corrupt payment), भ्रष्ट तौरतरीकों से, सामाजिक सेवा के नाम पर अनुषंगी हितलाभ (fringe benefit) के लिए बड़ी मात्रा में इसका इस्तेमाल भी इस रिसाव का कारण रहा है। मूल निर्यात उद्योगों की कीमत पर गैरआर्थिक घरेलू उत्पादन उद्योगों में विदेशी मदद से आर्थिक पोषण भी ऐसे रिसाव का प्रमुख कारण रहा है।

जब सार्वजनिक क्षेत्र उस सार्वजनिक उद्यम के लिहाज से उपलब्ध कार्यकुशल मानव संसाधन की तुलना में ज्यादा तेजी से फैलता है और जब इसके लिए भारी-भरकम कोष उपलब्ध होता है वह भी कर्मचारियों के लिए ढेर सारे लाभ के साथ, तो भ्रष्टाचार का खतरा होता है।

पूंजी संचय की दिशा को इस तरह से बदलना मुद्रा के अधिमूल्यन या अतिमूल्यांकन (overvaluation) के दुष्प्रभावों में से एक है। इससे निर्यात से रुपए की रसीद (rupee receipt) कम हो जाती है और निर्यात उद्योगों में निवेश लुभावना नहीं लगता, हालांकि यह कृत्रिम रुप से घरेलू जरुरतों की आपूर्ति करने वाले उद्योगों में निवेश का आकर्षण बढ़ा देता है। यहां यह बात ध्यान देने के लायक है कि पूंजी के गलत दिशा में जाने वाली श्रेणी केवल विदेशी नहीं घरेलू बचत के मामले में भी लागू होती है।

रिसाव के कारण (causes of leakage)

विदेशी मदद का गैर-योजना आयात और पूंजी निर्यात को वित्त पोषण दो कारकों से उत्पन्न प्रभावों के कारण होता हैः (अ) मुद्रास्फीति और सांख्यिकीय उपायों सहित सभी श्रेणियों के आर्थिक नियंत्रण,(ब) सार्वजनिक क्षेत्र का बहुत तेज गति से विकास।

कीमतों में उछाल के साथ मुद्रास्फीति, नकद और तय ब्याज वाली प्रतिभूतियों (fixed interest-bearing securities) के तौर पर की गई बचत को भी ग्रहण लगा देता है। बढ़ती कीमतों से बचत के ह्रास को रोकने के लिए बचतकर्ता अपनी बचत को सोने, पूंजी के छिपे हुए निर्यात और कम जरुरी शहरी प्रॉपर्टी में तबदील कर लेते हैं। बढ़ती कीमतों के कारण सट्टेबाजी भी बढ़ती है और बचत का कुछ हिस्सा स्फीत सूची (inflated inventories) के खाते में चला जाता है। कुछ लेनदेन 'काला' हो जाता है और वह 'काली' कमाई और ऐसी बचत में इजाफा करता है जिसे खुले तौर पर निवेश नहीं किया जा सकता। ऐसी बचत फिर सोने और पूंजी के अन्य गैर-योजनागत इस्तेमाल को प्रोत्साहित करती है।

जब सार्वजनिक क्षेत्र उस सार्वजनिक उद्यम के लिहाज से उपलब्ध कार्यकुशल मानव संसाधन की तुलना में ज्यादा तेजी से फैलता है और जब इसके लिए भारी-भरकम कोष उपलब्ध होता है वह भी कमर्चारियों के लिए ढेर सारे लाभ के साथ, तो भ्रष्टाचार का खतरा होता है। सार्वजनिक क्षेत्र निवेश का कुछ भाग तो दक्षता की कमी, फिजूलखर्ची और उपेक्षा के ही खाते में चला जाएगा। कुछ अंश भ्रष्टाचार के भुगतान में चला जाएगा। इसलिए जब सार्वजनिक क्षेत्र के किसी उपक्रम की लागत 100 करोड़ रुपए बताई जाती है तो वास्तविकता में इसकी भौतिक संपत्ति का मूल्य इससे कम हो सकता है। मूल्य का यह अंतर परियोजनाओं और परिस्थितियों पर निर्भर करता है। इन अंतरों-ज्यादा सही कहा जाए तो भ्रष्टाचार के तहत किए गए भुगतान-की सीमा तक घरेलू बचत और परियोजना के लिए हासिल विदेशी मदद 'काली' कमाई में तबदील हो जाती है और इससे की गई बचत गैर-योजना खर्च के लिए इस्तेमाल की जाती है।

हम इस अनुमान तक पहुंचे हैं कि हर साल 'काली' कमाई 650 करोड़ रुपए तक होगी। या यूं कहें कि राष्ट्रीय आय में इजाफे के सालाना प्रतिशत से भी ज्यादा। चूंकि यह ज्यादा कमाई वाले समूह को होती है सो उनकी बचत की दर भी ज्यादा हो सकती है। संभव है कि काली कमाई से बचत सालाना 400 करोड़ रुपए का आंकड़ा छू लेती हो।

वैसे बचत का यह संग्रह हमेशा छिपा नहीं रह सकता। अगर ऐसा होता तो, मात्रा इतनी ज्यादा होने के कारण, इसके प्रभाव विनाशकारी होते। उनके मालिक इस बचत को खुली बचत में बदलने के लिए नित नये हथकंडे अपनाते। इनमें से कुछ तो हमें मकान, यात्रा

और शादी के खर्च में दिखाई दे जाते हैं। भवन निर्माण और उपकरणों की खरीद में भी। काली कमाई को बुलियन बाजार के जरिये उसी की मिलीभगत से सफेद कमाई में तबदील किया जाता है। मान लीजिए एक व्यक्ति 'क' काली कमाई के 50 हजार रुपए को सफेद कमाई में बदलना चाहता है तो वह किसी सर्राफ 'ख' को 50 हजार रुपए के पैतृक गहनों की काल्पनिक बिक्री दिखा देगा। सर्राफ भी बही-खातों में वास्तविक खरीद-फरोख्त के तौर पर दर्ज करेगा। मानो वास्तविक गहने ही नकद या चेक देकर खरीदे गए हों।

हम जानते हैं कि घरेलू मुद्रास्फीति भी भुगतान संतुलन घाटे में इजाफा कर सकती है। क्योंकि ये घाटे, फिर उनका कारण चाहे जो हो, विदेशी मदद के दायरे में आते हैं। आलीशान जीवनशैली, सोने के भंडारण, विलासिता के सामान के आयात और पूंजी के निर्यात सभी विदेशी मदद से ही हासिल किए जाते हैं।

यह श्रीमान 'क' की समस्या को हल कर देता है। उसने अपने काली कमाई के 50 हजार रुपयों को सफेद कमाई में तबदील कर लिया है और वह अब इस पैसे का खुलकर इस्तेमाल कर सकता है। कानूनी तौर पर वह गहनों की कमाई से हासिल किए गए हैं। सर्राफ 'ख' इसके बाद इन गहनों को किसी रिफाइनरी या सुनार को सौंपेगा। ऐसे में उन्हें इस काम के लिए मिले पैसे उनके बही-खातों में और सर्राफ द्वारा किया गया भुगतान उसके बही-खातों में चढ़ने के साथ ही यह खरीद-फरोख्त वैध होने का दावा और अधिक पुख्ता हो जाएगा। इस गैरमौजूद गहने के कारोबार के लिए सर्राफ 10 से 15 फीसदी तक का कमीशन मांग सकता है, जिसका एक हिस्सा सुनार के खाते में जाएगा। 'ख' का अगला काम सुनार या रिफाइनरी से मिले गहनों को बेचना होगा। ऐसा वह बही-खातों में विभिन्न बिक्री दर्ज करके किया जा सकता है। यह बिक्री कई बेनामी पार्टियों के नाम दर्ज की जा सकती है।

ऐसे सौदे बुलियन कारोबारियों को अतिरिक्त कारोबार के तौर पर काफी लाभ पहुंचाते हैं। अंतःकरण को ठेस पहुंचाने की बात को छोड़ दिया जाए तो यह किसी जोखिम से

लगभग मुक्त से होते हैं। काल्पनिक बिक्री के सबूत हासिल करना टेढ़ी खीर है। खासतौर पर तब जब 'क' की हैसियत को देखते हुए गहनों की कीमत बहुत ज्यादा नहीं है। काली कमाई का सफेद कमाई में परिवर्तन लोगों द्वारा कारोबार के घाटे की खरीद से भी किया जाता है।

यह काफी जटिल होता है और इसके बारे में विस्तार से चर्चा की दरकार है। कारोबार में घाटा झेलने वाला व्यक्ति 'क' अपने घाटे को 'ख' को 'बेच' देता है। 'ख' के पास 'सफेद' करने के लिए 'काली' बचत है। यह राशि बाजार के ऐसे कारोबार के हालातों के आधार पर 'बिक्री' की राशि का 6 से 8 फीसदी हो सकती है। घाटे की 'बिक्री' के लिए 'क' अपने खाते में ऐसी प्रविष्टियां करेगा जिससे उसका घाटा 'ख' के लाभ संतुलन का प्रतिनिधित्व करे। इसमें 'क' और 'ख' को एक ऐसे लेनदेन में लिप्त बताया जाएगा जिसमें 'क' को घाटा हो गया। इस काल्पनिक लेनदेन से निकला ख का 'लाभ' ख को अपनी इतनी ही 'काली' कमाई को 'सफेद' बचत में बदलने में मदद करेगा।

वायदा कारोबार, खासतौर पर स्टॉक एक्सचेंज में, उपरोक्त तरीके के लिए ज्यादा जिम्मेदार है। विशेषज्ञ दलालों और बिचौलियों के जरिये ऐसे लेनदेन चलन में है। ये लोग इसी काम की खातिर इस कारोबार से जुड़े हुए हैं।

इसी तरह से एक व्यक्ति 'क' अपना लाभ 'ख' को 'बेच' सकता है जिसे ज्यादा लाभ हुआ हो, लेकिन जो ज्यादा आयकर के भुगतान से बचने के लिए ऐसा करना चाह रहा हो। इस मामले में 'क' अपने खाते में कुछ इस तरह से प्रविष्टियां करेगा कि उसका लाभ 'ख' के घाटे की पूर्ति कर दे। इससे 'ख' को अपनी सफेद कमाई को काला करने में मदद मिल जाएगी।

करों से बचने के लिए 'सफेद' कमाई को 'काली' कमाई में बदलने वाली लाभ की यह 'बिक्री' सभी देशों में लागू नहीं हो सकती। आयकर कानून, स्टॉक एक्सचेंज के वायदा कारोबार से हुए घाटे को मान्यता नहीं देंगे या वर्तमान कारोबार से फायदे के बाद अन्य एक्सचेंज के घाटे को भी राहत मिलना मुश्किल ही है। इसकी वजह से करों से बचने की यह तकनीक बेकार हो जाएगी, फिर भी इसका मतलब यह तकनीक पूरी तरह से खारिज नहीं हो जाती। घाटे की 'बिक्री' के जरिये 'काले' धन को 'सफेद' करके आयकर प्रतिबंधों से बचने की प्रक्रिया अप्रभावित है।

'काले' धन को 'सफेद' बचत में बदलने में कुछ वक्त लगता है। अगर 'काले' धन की बचत इसके 'सफेद' धन में परिवर्तन की प्रक्रिया से ज्यादा तेज है तो बड़ी बचत करने की दरकार होगी। इस बचत को सोने में निवेश किया जा सकता है। इसे वित्त सूची संचय (finance inventory accumulation) और कार्यशील पूंजी खरीदने (working capital purchase) के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है। इसे चोरी-छिपे विदेशों में भेजा जा सकता है या फिर विदेश की ही कमाई हो तो वहीं ऐसी मद में रखा जा सकता है जहां उसका पता न चल सके, जैसे मशीनरी की खरीद पर कमीशन के तौर पर, जो विदेशी फर्म के बिक्री के खातों में दिखेगी या फिर इसे आवासीय या ऐसी अचल संपत्ति की खरीद में इस्तेमाल किया जा सकता है, जिसकी कोई दरकार ही न हो।

कारोबार और उद्योग के लिए जरूरी सामान्य कार्यशील पूंजी के लिए नकद मदद स्वीकारकर-यह बचत का दुरूपयोग नहीं बल्कि इसका चोरी-छिपे किया हुआ इस्तेमाल है-बचत को गलत दिशा में ले जाने वाले इन सभी तरीकों से देश का भुगतान संतुलन के गड़बड़ाने की पूरी संभावना है। ऐसा निर्यात में कमी, विदेशी मुद्रा की प्राप्ति को छिपाकर या आयात बढ़ाकर किया जाता है।

धन और सोने को विदेशों में भेजने से भुगतान संतुलन में कमी तो स्वाभाविक है। दोनों ही में देश को विदेशी मुद्रा का बढ़ता बोझ ढोना पड़ता है। इसलिए इसे भुगतान संतुलन के खाते में दिखाना पड़ता है। ऐसी कमी विदेशों में ही कमाए गए और वहीं पर रखे गए कमीशन के मामले में भी देखने को मिलती है। ये कमीशन भारत की राष्ट्रीय कमाई का हिस्सा होते हैं। उसे विदेशी विक्रेताओं द्वारा भारतीय खरीददारों को भुगतान किए गए कमीशन के तौर पर नहीं दिखाने से इसमें कोई फर्क नहीं पड़ता। ये रोजमर्रा के तौरतरीके आधुनिक कारोबार के आचारशास्त्र का ही हिस्सा होते हैं और इसका किसी भी पार्टी के अंतःकरण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अगर विदेशी मुद्रा की इस कमाई को विदेश में ही न रखकर स्वदेश लाया जाता है तो वे हमारे भुगतान संतुलन में उधार माल (credit items) के तौर पर दिखाई देंगे। उनको विदेश में ही छोड़ देने का उधार के तौर पर प्रभाव (debit effect) दिखाई देगा।

भुगतान संतुलन की स्थिति जिन प्रक्रियाओं के जरिये बिगड़ेगी, काली कमाई की बचत के वायदा सूची (speculative inventories) में निवेश उनमें से एक हो सकती है। काले

धन के कम जरुरी स्थानीय प्रॉपर्टी में निवेश और मुद्रास्फीति के चलते ऐसे ही बचाव निवेशों या अधिक उत्पादन क्षमता के कारण ऐसा होने की कम ही संभावना दिखती है। बचत के गलत दिशा में जाने और भुगतान की स्थिति में कमजोरी की श्रेणियों में संबंध उतना ही खरा है जितना कि दोनों घटनाओं के बीच स्वाभाविक संबंधों में। यह संबंध स्पष्ट हो जाता है जब हम यह देखते हैं कि बचत के गलत दिशा में नहीं जाने की स्थिति में इन कामों में इस्तेमाल राष्ट्रीय उत्पाद या तो इसी रूप में या फिर उचित हेरफेर से निर्यात की जरूरतों को पूरा करता है। या फिर इस तरह से गलत दिशा में भेजी गई बचत का आयातित सामान के विकल्प के तौर पर निर्माण के लिए इस्तेमाल कर लिया जाता है। ऐसे हालात में आयात की उतनी ही मांग कम हो जाएगी। सभी मामलों में देश भुगतान संतुलन में कमी से बच जाएगा।

ऐसी व्यवस्था जिसमें मदद में मिले डॉलर पर न तो कोई नजर रख रहा है और न ही इस्तेमाल इसे देने वाले को दिखाई दे रहा है, पहले की तरह, मदद का रिसाव रोक पाना लगभग मुश्किल ही है। अधिकांश मदद घरेलू बचत के साथ ही ऐसे कम महत्व की परियोजनाओं में गलत दिशा में चली गई है, जिन्हें कुछ दिन और टाला जा सकता था।

इस तरह, घरेलू बचत के तमाम गलत इस्तेमाल से ऐसी आर्थिक घटनाओं की नींव रखी जाएगी, जिसका असर भुगतान संतुलन पर साफ तौर पर दिखाई देगा। जितना ज्यादा दुरूपयोग होगा, भुगतान संतुलन की शेष राशि (balance of payment debit) उतनी ही बढ़ती जाएगी। आसानी से हासिल हो जाने वाले काले धन का विलासितापूर्ण जीवन के लिए इस्तेमाल हो सकता है। यह हाल के वर्षों में कारोबार और औद्योगिक विकास के केंद्रों पर देखने को मिल रहा है। सभी केंद्रशासित और राज्य की राजधानियों में। ऐसे हालात में काली कमाई के कारण वे वस्तुएं भी घर पर ही इस्तेमाल हो जाएंगी, जिनको निर्यात किया जा सकता था या ज्यादा आयात से भी भुगतान संतुलन गड़बड़ा सकता है।

हम जानते हैं कि घरेलू महंगाई भी भुगतान संतुलन घाटे के इजाफे में योगदान देती

है। चूंकि यह घाटा, उसका कारण फिर चाहे जो हो, विदेशी मदद से संरक्षित होता है, स्वाभाविक है कि ठाठबाट वाली जीवनशैली, सोने के भंडार, विलासिता के सामान का आयात और पूंजी निर्यात सभी विदेशी मदद की ही देन है। प्रक्रिया की कार्यप्रणाली का कोई महत्व नहीं रह जाता है। इस तरह से आर्थिक एक्स-रे के नीचे देखे जाने पर हम शहरी इलाकों में प्रति व्यक्ति आय में लगभग स्थिरता के बाद कारों की संख्या में इजाफे, आलीशान फ्लैट्स, महंगे होटलों, स्मगलिंग के सोने के भंडारण, विवाह कार्यक्रमों में फिजूलखर्ची, तड़क-भड़क, छुट्टियों में बढ़ने वाले ट्राफिक, रिसोर्ट्स में उमड़ने वाली भीड़, स्विस बैंक में गोपनीय खातों और विदेशी मदद के बीच आर्थिक संबंध को साफ तौर पर देख सकते हैं। योजना से लाभ उठाने वालों की जीवनशैली में बदलाव भी जाहिर सा हो जाता है।

यह महत्वपूर्ण है कि 1955-56 में मुद्रास्फीति के फिर से आने के साथ ही यह तमाम बातें भी देखने को मिलीं। योजना में निवेश और 1956-57 से विदेशी मदद में बढ़ोत्तरी भी साफ देखी गई। पहली योजना में जहां विदेशी मदद का इस्तेमाल 39 करोड़ रुपए था तो यह दूसरी योजना तक बढ़कर 272 करोड़ रुपए हो गया। विदेशी मदद के ऐसे इस्तेमाल से देश पर कर्ज का बोझ तो बढ़ता ही जाना है। तब तो और भी जब इस कर्ज के भुगतान के माकूल उपाय नहीं खोजे जाते। वक्त आ गया है कि हम इस घटना के खतरों को जान लें, जो भारत की आर्थिक प्रगति की राह में बाधा है। यह हमारे नैतिक मानकों और हमारे विदेशों में रूतबे को भी क्षति पहुंचाते हैं।

वक्त आ गया है कि मदद करने वाले देशों के करदाता भी उनके कर कोष से दी जाने वाली मदद के इस्तेमाल को लेकर जागरूक हो जाएं।

रिसाव को रोकना (plugging the leakages)

ऐसी व्यवस्था जिसमें मदद में मिले डॉलर पर न तो कोई नजर रख रहा है और न ही इस्तेमाल इसे देने वाले को दिखाई दे रहा है, पहले की तरह, मदद का रिसाव रोक पाना लगभग मुश्किल ही है। अधिकांश मदद घरेलू बचत के साथ ही ऐसे कम महत्व की परियोजनाओं में गलत दिशा में चली गई है, जिन्हें कुछ दिन और टाला जा सकता था। ऐसी नीति का नतीजा यह हुआ कि जिस तेजी से विदेशी मदद मिल रही है उस लिहाज से हम पूंजी निर्माण और आर्थिक विकास के लिहाज से कुछ भी दिखा पाने की स्थिति

में नहीं हैं।

जैसा कि हमारे पिछले दो दशकों के अनुभव से देखा जा सकता है, विदेशी मदद के रिसाव को, बाहरी और भीतरी, रोकने का कोई उपाय अभी तक नहीं खोजा जा सका है। फिर भले ही ऐसे मामलों में मुकदमे बढ़ रहे हों। हम पानी को नाले में नहीं रख सकते और न ही मछली को पानी पीने से ही रोका जा सकता है। यह बात और है कि कुछ प्रशासक ऐसी कपोल कल्पना कर सकते हैं कि पर्याप्त अधिकार दिए जाने से वे दोनों ही लक्ष्यों को हासिल कर सकते हैं। जब तक विदेशी मुद्रा के दो मूल्य-आधिकारिक और काले बाजार का-जारी रहेंगे, विदेशी मुद्रा विनिमय में रिसाव भी जारी रहेगा। हम निर्यातकों और अन्य को इसमें से पूरा न सही कुछ हिस्सा बेचने से भला कैसे रोक सकते हैं, जब उनको काले बाजार से बेहद ललचाने वाला मूल्य मिलने वाला हो? और हम उन लोगों को भी रोकने की उम्मीद कैसे कर सकते हैं, जो अपनी जरूरतों की तमाम चीजें सस्ते सरकारी बाजार से खरीदना चाहते हों? लोगों की स्वाभाविक प्रकृति आधिकारिक भुगतान संतुलन को बेहद मुश्किल बना देती है। देश की बाहरी व्यवहार्यता (external viability) को कायम रखने के लिए विदेशी मदद लेना अनिवार्य हो जाता है।

इस व्याधि से बचाव के लिए जरूरी है कि विदेशी मुद्रा विनिमय के दोहरे मूल्यांकन की प्रणाली को खत्म किया जाए। भुगतान संतुलन के घाटे की समस्या का आयात पर प्रतिबंध कोई समाधान नहीं हैं। न ही, अधिकांश आर्थिक प्रशासकों की सोच की तरह आयात का कठोर विकल्प ही कोई समाधान है। ये दो उपाय-आयात प्रतिबंध और आयात प्रतिस्थापन (import substitution)-इस लिहाज से संबंधित हैं कि आयात प्रतिबंध से ही आयात प्रतिस्थापन जरूरी हो जाता है। मैंने इस विषय पर अपनी किताब 'भारत की आर्थिक नीति' (Indian Economic Policy) में खुलासा किया है। आयात प्रतिबंधों से उस पर्चेसिंग पॉवर पर फर्क नहीं पड़ता जो देश में आने से रोक दिए गए आयातित सामान पर निर्भर रहती थी। यह पर्चेसिंग पॉवर जगह-जगह घूमकर राष्ट्रीय उत्पाद के हर उपलब्ध विकल्प से अपना पोषण करती है।

अगर 'सी' का मतलब खपत, 'आई' का निवेश और 'ई' का निर्यात हो तो, सी+आई+ई बराबर होगा राष्ट्रीय उत्पाद (वाय)+आयात (एम) के। आयात पर प्रतिबंध से खपत पर खर्च पर असर नहीं होता और न ही बचत का निवेश पर। इससे यह बात साबित होती

है कि पर्चेसिंग पॉवर का आयात प्रतिबंध से आयातित सामान के साथ नाता खत्म नहीं होता और इससे खपत (सी) या निवेश (आई) का भरण (feed) नहीं होता। इसलिए इसे निर्यात (ई) पर ही निर्भर रहना होगा। दूसरे शब्दों में हर बार जब आयात में कटौती होगी, निर्यात में भी लगभग समान ही गिरावट देखने को मिलेगी। यानी आयात में कमी से भुगतान संतुलन की स्थिति को नहीं सुधारा जा सकता। यह घाटा बराबर उतना ही बना रहेगा, आयात में कटौती के बाद भी।

निर्यात से हासिल निर्यात विनिमय रसीद को निवेश के लिए उपलब्ध ताजा संसाधन के तौर पर देखा जाना एक गलत सोच है, हालांकि योजना आयोग अपनी सारी गणनाएं इसी आधार पर करता है।

आयात प्रतिस्थापन (import substitution) का भी यही परिणाम होगा। आयात प्रतिस्थापन से निर्यात (ई) या तो कम होगा या धीमा होगा। ऐसा निर्यात उद्योगों से उत्पादन के संसाधनों के आयात प्रतिस्थापन उद्योग को स्थानांतरित हो जाने से होगा। कम या धीमा आयात दरअसल कम या धीमे आयात उत्पादन का ही परिणाम है।

अगर इस दौरान मुद्रास्फीति कायम रहती है चलन में आई नई पूंजी निर्यात को और अधिक क्षति पहुंचाएगी। आयात पर और अधिक कटौती मुद्रास्फीतिजनित पूंजी के जरिये आए भुगतान संतुलन के बड़े अंतर को नहीं पाट सकेगी। यहां इस आम तौर पर मान ली गई बात का भी जिक्र होना चाहिए कि आयात प्रतिस्थापन 'जरूरी' आयात के लिए विदेशी मुद्रा को 'बचाता' है, जो देश में हासिल नहीं की जा सकती। और यह भी कि ऐसे उपायों से आर्थिक विकास तेज होता है। आर्थिक विकास, घरेलू बचत और विदेशी मदद को निवेश करने का सबसे अच्छा प्रयोजन है-उचित लाभ पर बेचे जा सकने वाले सामान के उत्पादन में प्रभावी निवेश। विनिमय नियंत्रण और आयात प्रतिबंध, निवेश प्रक्रिया के भाग नहीं हैं, न ही निर्यात रसीद (export receipts) निवेश का नया संसाधन। वे वर्तमान निवेश के लिए उत्पादित वर्तमान राष्ट्रीय बचत नहीं हैं। किसी भी विक्रेता की बिक्री प्रक्रिया की तरह ही निर्यात रसीद भी वास्तविक पूंजी का ही संचलन कर रही होती है, फिर भले ही उसे विदेश स्थानांतरित किया जा रहा हो। उनकी गणना विदेशी मुद्रा में करने से भी उनकी कार्यात्मक पहचान (functional

identity) नहीं बदल जाती, खासतौर पर, एकमुश्त पूंजी (block capital) की तरह, निर्यात रसीद भी समुदाय की पिछली बचत का ही हिस्सा होती है।

वास्तविक पूंजी का चलन राष्ट्रीय आय में उसी अनुपात में योगदान देता है, जिस गति से वह साल भर में संचलित होता है, यानी जितनी बार यह सामान से नकद में और नकद से सामान में इसी तरह से बदलता रहता है। विनिमय और आयात प्रतिबंध वास्तविक पूंजी के संचलन की कार्यक्षमता कम कर देते हैं। इसका ऐसा ही प्रभाव व्यापार से होने वाली राष्ट्रीय आय और अंतरराष्ट्रीय व्यापार के आकार पर भी प्रभाव पड़ता है। निर्यात से हासिल निर्यात विनिमय रसीद को निवेश के लिए उपलब्ध ताजा संसाधन के तौर पर देखा जाना एक गलत सोच है, हालांकि योजना आयोग अपनी सारी गणनाएं इसी आधार पर करता है। वास्तविकता में आर्थिक विकास के हित में यही होगा कि विनिमय नियंत्रण और आयात प्रतिबंधों को हटा लिया जाए। इससे न केवल अंतरराष्ट्रीय बाजार सेक्टर से होने वाली राष्ट्रीय आय में इजाफा होगा, बल्कि खुला अंतरराष्ट्रीय कारोबार राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को और अधिक कार्यकुशल बना देगा।

वास्तविक जीवन में विकासशील अर्थव्यवस्था का मॉडल-अगर हम बात एक मुक्त समाज की कर रहे हैं तो-जहां समुदाय मेहनत और अधिक मेहनत से अधोपतन से ही शुरूआत करे और फिर तरक्की करे। वास्तविक जीवन का मॉडल तो तीनों ही मोर्चों...

अब हम आर्थिक विकास से जुड़ी 'त्याग' और 'बोझ' की परिकल्पना का जिक्र करेंगे। मैं यह मानूंगा कि काल्पनिक आर्थिक मॉडल में 'त्याग' और 'बोझ' को जगह मिल सकती है। अगर मदद को उत्पादक और लाभकारी काम में लगाया जाए तो वे वास्तविक जीवन के अनुभवों का हिस्सा नहीं होते। किसी शिशु के वयस्क होने की प्रक्रिया की तरह आर्थिक विकास एक स्वस्थ और प्राण फूंकने (invigorating) वाला उद्यम है। न कि नकारात्मक परिश्रम की एक श्रृंखला।

समृद्धि की राह पर चलने वाला परिवार आय से अधिक आय, ज्यादा बचत से और अधिक बचत, ज्यादा बचत से ज्यादा निवेश की ओर बढ़ता चलता है। बचत और निवेश दोनों

में ही इजाफा होता रहता है। स्वतंत्र परिवारों और कंपनियों के समूह एक मुक्त समाज में तेजी से विकसित होती अर्थव्यवस्था का नजारा कुछ इसी तरह का होता है।
वास्तविक जीवन में विकासशील अर्थव्यवस्था का मॉडल-अगर हम बात एक मुक्त समाज की कर रहे हैं तो-जहां समुदाय मेहनत और अधिक मेहनत से अधोपतन से ही शुरूआत करे और फिर तरक्की करे। वास्तविक जीवन का मॉडल तो तीनों ही मोर्चों-आय में इजाफा, खपत और बचत-पर तरक्की पर आधारित होता है। भले ही आय और बचत की तुलना में खपत धीमी गति से बढ़े।
अगर विदेशी मदद का सदुपयोग हो तो जरूरी नहीं कि भुगतान संतुलन 'बोझ' और 'दिक्कत' वाला हो। गरीब लोग जरूरी नहीं कि दिवालिया ही हों। दिवालियापन तो कुप्रबंधन का परिणाम होता है। लगातार कुप्रबंधन से दिवालियापन आता है फिर व्यक्ति चाहे अमीर हो या गरीब, विकसित अर्थव्यवस्था से हो या विकासशील अर्थव्यवस्था से।
भुगतान संतुलन के घाटे और भुगतान संतुलन की दिक्कतों के बीच अंतर किया जाना जरूरी है। विदेशी मदद की पूंजी का निवेश के लिए इस्तेमाल करने वाले विकासशील देश अपने चालू खाते में घाटा दिखाते हैं। लेकिन इस घाटे की पूर्ति भुगतान की आमद से पूरी कर ली जाएगी। और इसके साथ ही भुगतान संतुलन की दिक्कतें खत्म हो जाएंगी। कम से कम देश की बाहरी व्यवहार्यता (external viability) या इसकी मुद्रा की विनिमय दर के लिहाज से तो दिक्कतें खत्म ही जाएंगी। आर्थिक विकास में जरूरी नहीं कि भुगतान संतुलन की 'दिक्कत' पेश ही आए।
इन सारी समस्याओं का हल विदेशी मदद, विनिमय नियंत्रण या आयात प्रतिबंध नहीं है। ऐसी नीतियों के परिप्रेक्ष्य में तो भारी-भरकम विदेशी मदद गलत नीतिगत कदमों को छिपाने के चक्कर में छिपी हुई हानि ही साबित हो सकती है। इलाज तो इस सारी समस्या की जड़ को ही खत्म करना है।

पूंजी बाजार से मदद की जरूरत

गलत घरेलू नीतियों के दुष्प्रभाव अधिकतर मामलों में सरकार-से-सरकार की मदद के दायरे में आ जाते हैं। लेकिन विश्व के पूंजी बाजार से आने वाली मदद दो कारकों के प्रभाव से समाप्त हो जाएगी-निरंतर स्थायित्व पर संदेह व अर्थव्यवस्था की प्रगति और पूंजी की स्वेच्छा से वापस कर पाने की क्षमता पर सवाल या अर्थव्यवस्था की बाहरी

व्यवहार्यता के अभाव में कमाई को स्थानांतरित न कर पाने की क्षमता।

यह उल्लेखनीय है कि पिछले दो दशकों में निजी पूंजी, देश से बाहर जा रही है। 1948-49 से बाहर जाने वाली सकल निजी पूंजी 92 करोड़ रुपए रही है, जिसमें पहले तीन योजना वर्षों के दौरान यह 43 करोड़ रुपए रही है। वित्त मंत्री का कहना है कि पहली तीन योजनाओं में भारत में विदेशी निजी निवेश में 625 करोड़ रुपए का इजाफा हुआ है। यह एक गुमराह करने वाला बयान है। क्योंकि इसमें पिछले विदेशी निवेशों से की गई कमाए गए रुपए का पुनर्निवेश भी शामिल है।

प्रोफेसर पी.टी. बाअर के शब्दों में, भगवान ने गरीब देश बनाने की अपनी गलती सुधारने का जिम्मा संपन्न देशों को नहीं दिया है। आज के संपन्न देश भी कभी गरीब थे और कुपोषण केवल एशियाईयों के ही खाते में नहीं था। पूर्वी और पश्चिमी जर्मनी के लोग तो एक ही नस्ल और प्रचुर ज्ञान वाले थे। अगर पश्चिमी जर्मनी में चमत्कारिक विकास हुआ तो ऐसा दोनों देशों की अलग-अलग नीतियों के कारण ही हुआ-पूर्वी जर्मनी ने केंद्रीयकृत योजनाओं की नीति को अपनाया तो पश्चिमी जर्मनी ने हर एक को आर्थिक आजादी का मॉडल अपनाया।

निजी स्वतंत्रता न केवल उस व्यक्ति विशेष के लिए ही महत्वपूर्ण है, बल्कि कामकाज के चयन की आजादी, धन के इस्तेमाल की आजादी और बचत के निवेश की आजादी के अनुपात में ही आर्थिक विकास भी होगा। अगर एक व्यक्ति को इन आर्थिक आजादियों से वंचित कर दिया जाता है-और योजना के नाम पर काले धंधे में लिप्त होता है-तो ऐसा व्यक्ति एक गुलाम से बेहतर कैसे होगा? योजना के गलत नाम तले हमारी नीतियां आजादी और प्रगति दोनों पर ही अंकुश लगा देती हैं।

सही नीतियां हों तो घरेलू बचत और विदेशी मदद का यही आकार भी हमें चौंका देने वाली तेजी से समृद्धि की राह पर ले जाएगा। दूसरी और अगर नीतियां ही गलत हों तो कितनी भी विदेशी मदद मिल जाए, जैसा कि भारत के अनुभव से देखा जा सकता है, हमें आर्थिक अराजकता और सामाजिक-राजनीतिक अस्थिरता से नहीं बचा सकती। इस अराजकता से बाहर आना हमारे ही हाथ में है। हमें आज आधारभूत नीतियों को ही बदलने की जरूरत है, न कि विदेशी मदद की।